विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

शिक्षा की प्राचीन भारतीय पद्धति
राजेन्द्र कुमार शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4

समय के सूक्ष्म रूप को नापती घड़ियां
प्रवेश दीक्षित

पृष्ठ क्र. 5-6

सुश्रुत संहिता में वर्णित शल्य चिकित्सा
डॉ. अविनाश यादव

पृष्ठ क्र. 7

संस्कृत व्याकरण और अमरकोश
यतिंद्र तिवारी

पृष्ठ क्र. 8

विभिन्न कालखंडों में भारतीय परिधान
मिथिलेश यादव

शिक्षा की प्राचीन भारतीय पद्धति

राजेन्द्र कुमार शर्मा

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति में हमें अनौपचारिक तथा औपचारिक दोनों प्रकार के शैक्षणिक केन्द्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। औपचारिक शिक्षा मन्दिर, आश्रमों और गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। ये ही उच्च शिक्षा के केन्द्र भी थे। जबकि परिवार, पुरोहित, पण्डित, संन्यासी और त्यौहार प्रसंग आदि के माध्यम से अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त होती थी। विभिन्न धर्मसूत्रों में इस बात का उल्लेख है कि माता ही बच्चे की श्रेष्ठ गुरु है। कुछ विद्वानों ने पिता को बच्चे के शिक्षक के रुप में स्वीकार किया है। जैसे–जैसे सामाजिक विकास हुआ वैसे–वैसे शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित होने लगी। वैदिक काल में परिषद, शाखा और चरण जैसे संघों की स्थापना हो गयी थी, लेकिन व्यवस्थित शिक्षण संस्थाएँ सार्वजनिक स्तर पर बौद्धों द्वारा प्रारम्भ की गई थी।

गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। वनों में गुरुकुल बहुत कम होते थे। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सान्दीपनि, कण्व आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहाँ दर्शन शास्त्रों के साथ–साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। अधिकांश गुरुकुल गाँवों या नगरों के समीप किसी बाग अथवा वाटिका में बनाये जाते थे। जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। इससे दो लाभ थे। एक तो गृहस्थ आचार्यों को सामग्री एकत्रित करने में सुविधा थी, दूसरा ब्रह्मचारियों को भिक्षाटन में अधिक भटकना नहीं पड़ता था।

मनु के अनुसार ब्रह्मचारों को गुरु के कुल में, अपनी जाति वालों में तथा कुल बान्धवों के यहाँ से भिक्षा याचना नहीं करनी चाहिए, यदि भिक्षा योग्य दूसरा घर नहीं मिले, तो पूर्व–पूर्व गृहों का त्याग करके भिक्षा याचना करनी चाहिये। इससे स्पष्ट होता है कि गुरुकुल गाँवों के सन्निकट ही होते थे। स्वजातियों से भिक्षा याचना करने में उनके पक्षपात तथा ब्रह्मचारी के गृह की ओर आकर्षण का भय भी रहता था अतएव स्वजातियों से भिक्षा–याचना का पूर्ण निषेध कर दिया गया था। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकर विद्वान पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे और अधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे, जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला, पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, धारा, तंजोर आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान आकृष्ट होते थे। फलतः काशी, कर्नाटक, नासिक आदि शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये थे। कभी–कभी राजा भी अनेक विद्वानों को आमंत्रित करके दान में भूमि आदि देकर तथा जीविका निश्चित करके उन्हें बसा लेते थे। उनके बसने से वहाँ एक नया गाँव बन जाता था। इन गाँवों को 'अग्रहार' कहते थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों एवं मठों के आचार्यों के प्रभाव से ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग मठ शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बन गये। इनमें शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि के मठ प्रसिद्ध हैं। सार्वजनिक शिक्षण संस्थाएँ सर्वप्रथम बौद्ध विहारों में स्थापित हुई थीं। भगवान बुद्ध ने उपासकों की शिक्षा–दीक्षा पर अत्यधिक बल दिया। इस संस्थाओं में धार्मिक ग्रन्थों का अध्यापन एवं आध्यात्मिक अभ्यास कराया जाता था। वेदों में उल्लिखित कुछ मन्त्र इस बात को रेखांकित करते है कि कुमारियों के लिए शिक्षा अपरिहार्य एवं महत्वपूर्ण मानी जाती थी। स्त्रियों को लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थी। सहशिक्षा को बुरा नहीं समझा जाता था। गोभिल गृहसूत्र में कहा गया है कि अशिक्षित पत्नी यज्ञ करने में समर्थ नहीं होती थी। संगीत शिक्षा पर जोर दिया जाता था। इच्छा और योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्ति के लिए श्रमणक्रमणिका में उल्लिखित

प्राचीन परम्परा के अनुसार ऋग्वेद की रचना में दो सौ स्त्रियों का योगदान है। शकुन्तला राव शास्त्री ने इसे तीन कोटि में विभाजित किया है। (1) महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक, (2) आंशिक रूप से महिला ऋषि द्वारा लिखे गये श्लोक एवं (3) महिला ऋषिकाओं को समर्पित श्लोक। ऋग्वेद के दशम मंडल के 38 एवं 40 सूक्त की ऋषिका घोषा, रोमशा, विश्ववारा, इन्द्राणी, शची और अपाला थी।

वैदिक युग में स्त्रियाँ यज्ञोपवीत धारण कर वेदाध्ययन एवं सायं–प्रातः होम आदि कर्म करती थी। शतपथ ब्राह्मण में व्रतोपनयन का उल्लेख है। हरित संहिता के अनुसार वैदिक काल में शिक्षा ग्रहण करने वाली दो प्रकार की कन्याएँ होती थी– ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवात्। सद्योवात् 15 या 16 वर्ष की उम्र तक, जब तक उनका विवाह नहीं हो जाता था, तब तक अध्ययन करती थी। इन्हें प्रार्थना एवं यज्ञों के लिए आवश्यक

महत्वपूर्ण वैदिक मंत्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत एवं नृत्य की भी शिक्षा दी जाती थी। जैन और बौद्ध सहित्य से पता चलता है कि कुछ भिक्षुणियों ने साहित्य के विकास और शिक्षा में अपूर्व योगदान दिया जिसमें अशोक की पुत्री संघमित्रा प्रमुख थी। यहाँ बौद्ध आगमों की महान शिक्षिकाओं के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी। जैन साहित्य से जयंती नामक महिला का पता चलता है जो धर्म और दर्शन के ज्ञान की प्यास में अविवाहित रही और अंत में भिक्षुणी हो गई। हाल की गाथासप्तशती में सात कवयित्रियों की रचनाएँ संग्रहीत है। शीलभट्टारिका अपनी सरल तथा प्रासादयुक्त शैली तथा शब्द और अर्थ के सामंजस्य के लिए प्रसिद्ध थी। देवी लाट प्रदेश की कवियित्री थी। विदर्भ में विजयांका की कीर्ति की समता केवल कालिदास ही कर सकते थे। अवंतीसुन्दरी कवियत्री और टीकाकार दोनों ही थी। कतिपय महिलाओं ने आयुर्वेद पर पांडित्यपूर्ण और प्रामाणिक रचनाएँ की हैं जिनमें रुसा का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। आलोच्य काल में नारियों के लिए किसी प्रकार की पाठशाला का पृथक–प्रबन्ध किया गया हो ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता।

बौद्धों ने अपने विहारों में भिक्षुणियों की शिक्षा की व्यवस्था की थी किन्तु कालान्तर में उसके भी उदाहरण प्राप्त नहीं होते। वस्तुतरू कन्याओं के लिए पृथक पाठशालाएँ न थीं। जिन कन्याओं को गुरुकुल में अध्ययन करने का अवसर प्राप्त होता था वे पुरुषों के साथ ही अध्ययन करती थीं। उत्तररामचरित में वाल्मीकि के आश्रम में आत्रेयी अध्ययन कर रही थी। भवभूति ने 'मालती माधव' (प्रथमांक) में कामन्दकी के गुरुकुल में अध्ययन करने का वर्णन किया है। किन्तु ये उदाहरण बहुत कम हैं। अधिकतर गुरुपत्नी, गुरुकन्या अथवा गुरु की पुत्रवधू ही गुरुकुल में रहने के कारण अध्ययन का लाभ उठा पाती थीं वस्तुतः शास्त्रों के अनुरोध पर कन्याओं की शिक्षा गृह पर ही होती थी। प्राचीन भारत में गुरु के प्रत्यक्ष निरीक्षण में रहकर विद्योपार्जन श्रेष्ठ माना जाता था। अतएव अधिकांश विद्यार्थी गुरुकुलों में ही रहते थे। गुरु जन अपने घर पर ही विद्यार्थी के आवास–निवास की व्यवस्था करते थे। भोजन का कार्य भिक्षावृत्ति द्वारा चलता था अथवा अध्यापक के गृह में भी व्यवस्था हो जाती थीं। उस समय एक गुरु के पास एक साथ प्रायः पन्द्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं पढ़ते थे। कभी–कभी तो केवल चार विद्यार्थी ही एक गुरु के अधीन अध्ययन करते थे।

अतएव उनके भोजन व निवास की व्यवस्था करना गुरु के लिए कोई कठिन कार्य नहीं होता था। किन्तु गुरु के विद्यार्थियों का प्रबन्ध करने में असमर्थ होने पर विद्यार्थी अपने रहने का प्रबन्ध स्वयं करते थे। अध्यापन कार्य में विद्यार्थी से धन माँगना अध्यापक के लिए अत्यन्त निन्दनीय माना जाता था। गुरु निर्धन से निर्धन विद्यार्थी को भी पढ़ाने से मना नहीं कर सकता था। जो गुरु विद्या के लिए मोल–भाव करता था उसको विद्या का व्यवसायी कह कर हेय समझा जाता था। ऐसे अध्यापकों को धार्मिक अवसरों पर ऋत्विक के कार्य के अयोग्य कहा गया। किन्तु गुरु के पढ़ाये हुए एक ही अक्षर द्वारा शिष्य उसका ऋणी समझा जाता था। अतएव समावर्तन के अवसर पर शिष्य गुरु–दक्षिणा के रूप में सामर्थ्यानुसार गुरु को धन देते थे। जो अत्यन्त निर्धन होते थे वे गुरु की गृहस्थी में सेवा–कार्य करके तथा समावर्तन के समय भिक्षा माँग कर गुरु दक्षिणा देते थे। वस्तुतः राजा और प्रजा दोनों का कर्तव्य था कि वे विद्वान आचार्यों एवं शिक्षण संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दें। प्राचीन भारतीय शिक्षा का इतिहास सहस्रों वर्षों की लम्बी अवधि में लिखा गया है। अतः यह अत्यन्त विशाल है। स्मृतियाँ संस्कृत साहित्य में परिवर्तनशील एक विशिष्ट काल की ओर संकेत करती हैं। उनके माध्यम से वैदिक काल से लेकर उनके अपने समय तक की समस्त साहित्यिक रचनाओं की श्रृंखला का पूर्वाभास कराया गया है। स्मृतिकालीन छात्रों के अध्ययनार्थ वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं सूत्रों के काल की समस्त मुख्य रचनाएँ थीं। ई.पू. पन्द्रह सौ शताब्दी तक अधिकांश वैदिक मन्त्रों के सम्पादन का कार्य पूर्ण हो चुका था। तत्पश्चात् वेदों के अर्थ–बोध के लिए जिन टीकात्मक एवं चर्चात्मक ग्रन्थों का विकास हुआ वे 'ब्राह्मण' ग्रन्थों के नाम से प्रतिष्ठित हुए। इस काल के विद्वानों की प्रतिभा का उपयोग वेदों के स्वरूप की रक्षा एवं अर्थों के स्पष्टीकरण में किया गया, न कि नवीन साहित्यिक–रचनाओं के निरुपण में।

समय के सूक्ष्म रूप को नापती घड़ियां

प्रवेश दीक्षित

अति प्राचीन काल में मनुष्य ने सूर्य की विभिन्न अवस्थाओं के आधार प्रातः, दोपहर, संध्या एवं रात्रि की कल्पना की। ये समय स्थूल रूप से प्रत्यक्ष हैं। तत्पश्चात् घटी पल की कल्पना की होगी। इसी प्रकार उसने सूर्य की कक्षागतियों से पक्षों, महीनों, ऋतुओं तथा वर्षों की कल्पना की होगी। समय को सूक्ष्म रूप से नापने के लिए पहले शंकुयंत्र तथा धूपघड़ियों का प्रयोग हुआ। रात्रि के समय का ज्ञान नक्षत्रों से किया जाता था। तत्पश्चात् पानी तथा बालू के घटीयंत्र बनाए गए। ये भारत में अति प्राचीन काल से प्रचलित थे। इनका वर्णन ज्योतिष की अति प्राचीन पुस्तकों में जैसे 'पंचसिद्धांतिका' तथा 'सूर्यसिद्धांत' में मिलता है।

पंचसिद्धांतिका भारत के प्राचीन खगोलशास्त्री, ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर का एक ग्रंथ है। महाराजा विक्रमादित्य के काल में इस ग्रंथ की रचना हुई थी। वाराहमिहिर ने तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ वृहज्जातक, वृहत्संहिता और पंचसिद्धांतिका की रचना कीं। पंचसिद्धान्तिका में खगोल शास्त्र का वर्णन किया गया है। इसमें वाराहमिहिर के समय प्रचलित पाँच खगोलीय सिद्धांतों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में ग्रह और नक्षत्रों का गहन अध्ययन किया गया है। इन सिद्धांतों द्वारा ग्रहों और नक्षत्रों के समय और स्थिति की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इन पुस्तकों में त्रिकोणमिति के महत्वपूर्ण सूत्र दिए हुए हैं, जो वाराहमिहिर के त्रिकोणमिति ज्ञान के परिचायक हैं। पंचसिद्धांतिका में वराहमिहिर से पूर्व प्रचलित पाँच सिद्धांतों का वर्णन है जो सिद्धांत पोलिशसिद्धांत, रोमकसिद्धांत, वसिष्ठसिद्धांत, सूर्यसिद्धांत तथा पितामहसिद्धांत हैं। वराहमिहिर ने इन पूर्वप्रचलित सिद्धांतों की महत्वपूर्ण बातें लिखकर अपनी ओर से 'बीज' नामक संस्कार का भी निर्देश किया है, जिससे इन सिद्धांतों द्वारा परिगणित ग्रह दृश्य हो सकें। पानी का घटीयंत्र बनाने के लिए किसी पात्र में छोटा सा छेद कर दिया जाता था, जिससे पात्र एक घंटी में पानी में डूब जाता था। उसके बाहरी भाग पर पल अंकित कर दिए जाते थे। इसलिए पलों को पानीय पल भी कहते हैं।

बालू का घटीयंत्र भी पानी के घटीयंत्र सरीखा था, जिसमें छिद्र से बालू के गिरने से समय ज्ञात होता था। किंतु ये सभी घटीयंत्र सूक्ष्म न थे तथा इनमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी थीं। विज्ञान के प्रादुर्भाव के साथ लोलक घड़ियाँ तथा तत्पश्चात् नई घड़ियाँ, जिनका हम आज प्रयोग करते हैं, अविष्कृत हुई। समय मापने के लिए वृक्षों की छाया को नापने चलन से लेकर कोणार्क के सूर्य मन्दिर के चक्र तक अनेक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता रहा है। समय का ज्ञान सूर्य की दृश्य स्थितियों से किया जाता है। सामान्यतः सूर्योदय से सूर्यास्त तक दिन तथा सूर्यास्त से पुनः सूर्योदय तक रात्रि होती हैं, किंतु तिथिगणना के लिए दिन–रात मिलकर दिन कहलाते हैं। किसी स्थान पर सूर्य द्वारा याम्योत्तर वृत्त के अधोबिंदु की एक परिक्रमा को एक दृश्य दिन कहते हैं, तथा सूर्य की किसी स्थिर नक्षत्र के सापेक्ष एक

परिक्रमा को नाक्षत्र दिन कहते हैं। यह नक्षत्र रूढ़ि के अनुसार माप का आदि बिंदु अर्थात् क्रांतिवृत्त तथा विषुवत् वृत्त का वसंत संपात बिंदु लिया जाता है। यद्यपि नक्षत्र दिन स्थिर है, तथापि यह हमारे व्यवहार के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि यह दृश्य दिन से 3 मिनट 53 सेकंड कम है। दृश्य दिन का मान सदा एक–सा नहीं रहता। अतः किसी घड़ी से दृश्य सूर्य के समय का बताया जाना कठिन है। इसके दो कारण हैं: एक तो सूर्य की स्पष्ट गति सदा एक सी नहीं रहती, दूसरा स्पष्ट सूर्य क्रांतिवृत्त में चलता दिखाई देता है। हमें समय सूचक यंत्र बनाने के लिए ऐसे सूर्य की आवश्यकता होती है, जो मध्यम गति से सदा विषुवत् वृत्त में चले। ऐसे सूर्य को ज्योतिषी लोग ज्योतिष–माध्य–सूर्य अथवा केवल माध्य सूर्य कहते हैं। विषुवत् वृत्त के मध्यम सूर्य तथा क्रांतिवृत्त के मध्यम सूर्य के अंतर को भास्कराचार्य ने उदयांतर तथा क्रांतिवृत्तीय मध्यम सूर्य तथा स्पष्ट सूर्य के अंतर को भुजांतर कहा है। यदि ज्योतिष–माध्य सूर्य में उदयांतर तथा भुजांतर संस्कार कर दें, तो वह दृश्य सूर्य हो जाएगा। आधुनिक शब्दावली में उदयांतर तथा भुजांतर के एक साथ संस्कार को समय समीकार कहते हैं।

यह हमारी घड़ियों के समय (माध्य–सूर्य–समय) तथा दृश्य सूर्य के समय के अंतर के तुल्य होता है। समय समीकार का प्रति दिन का मात्र गणित द्वारा निकाला जा सकता है। आजकल प्रकाशित होनेवाले नाविक पंचांग में, इसका प्रतिदिन का मान दिया रहता है। इस प्रकार हम अपनी घड़ियों से जब चाहें दृश्य, सूर्य का समय ज्ञात कर सकते हैं। इसका ज्योतिष में बहुत उपयोग होता है। विलोमतः हम सूर्य के ऊर्ध्व याम्योत्तर बिंदु के लंघन का वेध करके, उसमें समय समीकार को जोड़ या घटाकर, वास्तविक माध्य–सूर्य का समय ज्ञात करके अपनी घड़ियों के समय को ठीक कर सकते हैं। प्राचीन भारत में धार्मिक प्रथाएँ और मान्यताएँ अक्सर विशेष खोजों या आविष्कारों का कारण बनती हैं। भारत में जन्म लेने वाले सभी धर्मों में, दिन के विशेष समय पर अपने धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए दिन के कुछ विशेष समय का पालन किया जाता है। लेकिन उनके पास समय बताने का कोई विश्वसनीय तरीका नहीं था। सूरज डायल बनाने के लिए जमीन में एक साधारण छड़ी का उपयोग किया जा सकता है, लेकिन जब सूरज नहीं होता है, जैसे कि बादल वाले दिन, तो आप क्या करते हैं।

प्राचीन भारतीयों ने एक अलग प्रकार की घड़ी तैयार की, जो पानी पर आधारित थी, जिसे घटिका यंत्र कहा जाता है। भारतीयों ने दिन और रात को साठ भागों में विभाजित किया था, जिनमें से प्रत्येक को एक घड़ी कहा जाता है। इसके अलावा रात और दिन को चार भागों में बांटा गया है, जिनमें से प्रत्येक को पहर कहा जाता है। सभी महत्वपूर्ण शहरों में, समय मापने के लिए घड़ियाली नामक पुरुषों के एक समूह को नियुक्त किया गया था। समय मापने के लिए तली में छेद वाले एक बर्तन को पानी से भरे दूसरे बड़े बर्तन के ऊपर रखा जाता था। जब छेद वाला बर्तन पानी से भर जाता था, तो वे घड़ियाल पर प्रहार करते थे, एक मोटी पीतल की डिस्क जो ऊँचे स्थान पर हथौड़े से लटकाई जाती थी। इससे एक निश्चित समयावधि का संकेत मिलता था। धूपघड़ी के साथ जल घड़ियाँ, समय मापने वाले सबसे पुराने उपकरण होने की संभावना है। उनका आविष्कार सबसे पहले कहाँ और कब हुआ, यह ज्ञात नहीं है, और उनकी महान प्राचीनता को देखते हुए यह कभी भी संभव नहीं हो सकता है। कटोरे के आकार का बहिर्वाह जल घड़ी का सबसे सरल रूप है और ऐसा माना जाता है कि यह हजारों साल पहले भारत, चीन, बेबीलोन और मिस्र में मौजूद था। इतिहासकारों का सुझाव है कि मोहनजोदड़ो से खोदे गए बर्तनों का उपयोग पानी की घड़ियों के रूप में किया गया होगा। वे नीचे से पतले होते हैं, किनारे पर एक छेद होता है। प्राचीन भारत में जल घड़ी के उपयोग का उल्लेख दूसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व के अथर्ववेद में भी मिलता है।

सातवीं शताब्दी ईस्वी के दौरान भारत का दौरा करने वाले चीनी यात्री ने एक विवरण दिया था कि यह जल घड़ी बौद्ध विश्वविद्यालय, नालंदा में कैसे काम करती थी । नालंदा में दिन में चार घंटे और रात में चार घंटे पानी की घड़ी से मापे जाते थे, जिसमें एक तांबे का कटोरा होता था जिसमें पानी से भरे एक बड़े कटोरे में दो बड़ी झांकियां होती थीं। कटोरे के तल में एक छोटे से छेद से पानी भरा हुआ थाय जब यह पूरी तरह भर गया तो डूब गया और दिन के समय ढोल बजाने से इसकी पहचान हुई। पानी की मात्रा मौसम के अनुसार बदलती रहती थी और इस घड़ी को विश्वविद्यालय के छात्र चलाते थे। तारों, नक्षत्रों और ब्रह्माण्ड को जानने के लिए भारत में वेधशालाओं के निर्माण का सिलसिला शुरू हुआ। तब भारत के विद्वान समूची धरती को अपना ही घर तथा कार्यक्षेत्र मानते थे इसलिए वे मात्र भारत में ही बैठे रहने की अपेक्षा जहाँ आवश्यकता अनुभव करते थे, वहाँ वेधशाला का निर्माण करते थे। भारतीय विद्वानों ने ज्योतिष के लिए उपयुक्त भौगोलिक स्थितियों को समझा और वेधशालाओं का निर्माण का सिलसिला शुरू हुआ।

वेधशाला में बने शंकु, धूप घड़ी, रेत घड़ी, घटी यंत्र आदि यंत्रों से जहाँ समय निर्धारण किया जाता था वहीं इससे सूर्य और चंद्र की गति पर नजर भी रखी जाती थी। वर्षों के प्रयोग और प्रयासों के बाद ही भारतीय ज्योतिषियों ने पंचांग का निर्माण किया। उज्जैन की वेधशाला का भी बड़ा महत्व रहा है, कर्क रेखा उज्जैन से होकर ही गुजरती है। महाकाल की गणना का भी उससे संबंध है। प्राचीनकाल में दुनिया का समय निर्धारण उज्जैन से ही होता था। उज्जैन शहर में दक्षिण की ओर शिप्रा के दाहिनी तरफ जयसिंहपुरा नामक स्थान में बना यह प्रेक्षागृह 'जंतर–महल' के नाम से जाना जाता है। यहाँ 5 यंत्र लगाए गए हैं– सम्राट यंत्र, नाड़ी वलय यंत्र, दिगंश यंत्र, भित्ति यंत्र एवं शंकु यंत्र। प्राचीन खगोलीय यंत्रों और जटिल गणितीय संरचनाओं के माध्यम से ज्योतिषीय और खगोलीय घटनाओं का विश्लेषण और सटीक भविष्यवाणी करने के लिए दुनियाभर में भारत की वेधशालाएँ बहुत प्रसिद्ध है।

सुश्रुत संहिता में वर्णित शल्य चिकित्सा

डॉ. अविनाश यादव

शल्य चिकित्सा भी भारतीय चिकित्सा–ज्ञान का प्राचीन काल से ही अंग रहा है। कहते हैं, विश्वामित्र के पुत्र (महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय चार गरुणपुराण) सुश्रुत ने शल्यशास्त्र के अध्ययन की इच्छा प्रकट की। इसलिए उसके गुरु धन्वन्तरि ने इसी अंग का उपदेश दिया। सुश्रुत दूसरी शताब्दी में आयुर्वेद के विद्वान थे। उसके द्वारा रचित ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में बाद में चलकर नवीन तथ्य जोड़ने का सिलसिला जारी रहा और यह सिलसिला दसवीं शताब्दी तक चलता रहा। अतः इसे दसवीं शताब्दी के बाद की रचना मानना तार्किक होगा। सुश्रुत संहिता में 120 अध्याय हैं। अध्यायों की यह संख्या मनुष्यों की आयु 120 वर्ष मानकर है। हाथियों की आयु भी इतनी ही बताई गई है। 60 वर्ष की आयु में हाथी पूर्ण युवा होता है। मनुष्यों के लिए भी कहा जाता है कि 60 वर्ष की आयु में उसे बुद्धि आती है। युद्ध में सैनिकों के हाथ–पैर कट जाते थे। शरीर में तीर, भाले घुस जाते थे। इन सबकी चिकित्सा चीर–फाड़ करके की जाती थी। 'शल्य' का अर्थ है पीड़ा। इस चिकित्सा में होनेवाली असहनीय पीड़ा के कारण ही इसका नाम शल्य–चिकित्सा पड़ गया था। प्रारम्भ में शल्य चिकित्सा के बारे में ज्ञान अल्प था। शल्य–चिकित्सक चुभे हुए बाण तथा भाले निकाल देते थे और कुचले हुए अंग काट देते थे। जनसाधारण इस प्रकार की चिकित्सा से डरता था। वह औषधियों द्वारा उपचार को ज्यादा उपयोगी मानता था। सुश्रुत नामक आयुर्वेदाचार्य ने शल्य–चिकित्सा के बारे में बिखरी हुई जानकारी एकत्रित करके तथा नए–नए प्रयोग करके शल्य चिकित्सा को परिष्कृत रूप दिया। उन्होंने अपने संस्कृत में लिखे विस्तृतः ग्रन्थ के पहले 120 अध्यायों में शल्य–चिकित्सा का वर्णन किया है। इसके उत्तर–तंत्र में शरीर की चिकित्सा का भी वर्णन किया है। इस महान ग्रन्थ के आरम्भ में बताया गया है कि चिकित्सा छात्रों को किस प्रकार कुम्हड़ा, लौकी, तरबूज आदि को बारीकी से काट–काटकर शल्यक्रिया का अभ्यास करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत मोम के पुतलों, फलों, मरे हुए जानवरों का प्रयोग करके छात्रों को शल्य चिकित्सा सिखलाते थे। वे अच्छे शव को नदी के जल में घास–फूस से ढँककर रख देते थे। इससे धीरे–धीरे शरीर की त्वचा अलग हो जाती थी। इसके बाद छात्रों को वे शरीर की मांसपेशियों, हड्डियों और भीतरी अंगों का क्रियात्मक अध्ययन कराते थे। वे मर्मस्थलों के बारे में विशेष रूप से समझाते थे। आचार्य सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा में इस्तेमाल होनेवाले 101 यंत्रों का ज्ञान अपने ग्रन्थ में कराया और उनमें से तमाम आज भी प्रयोग में आते हैं। सौन्दर्य का महत्व प्राचीन काल से ही रहा है। भारतीय चिकित्साशास्त्र जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य साधनों, लेपों आदि की जानकारी देता रहा है, वहीं विकृत अंगों का प्लास्टिक सर्जरी द्वारा इलाज भी उस युग में आचार्य सुश्रुत ने ही आरम्भ किया था, जिसे अंग्रेजों ने भारतीय प्राचीन ग्रन्थों से सीखा और फिर यूरोप जाकर इसका विकास किया। इस अमूल्य ग्रन्थ में शल्य चिकित्सा के अलावा शरीर–संरचना, निदान, कार्य–चिकित्सा, बालरोग, स्त्रीरोग, मनोरोग, नेत्र तथा सिर रोग, फार्मेसी, विष विज्ञान आदि का भी वर्णन है। आचार्य सुश्रुत सफल चिकित्सक के लिए पुस्तकीय ज्ञान के अलावा प्रयोगात्मक ज्ञान भी आवश्यक मानते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ में विभिन्न मौसमों उनमें पैदा होनेवाली वनस्पतियों, उनका मनुष्यों और पशुओं पर पड़ने वाला प्रभाव जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि को वैज्ञानिक ढंग से समझाया है। भारत के इस महान शल्य चिकित्सक की महान रचना का लाभ पूरे विश्व ने उठाया। 800 ईसवी में ही सुश्रुत संहिता का अरबी भाषा में अनुवाद हो गया था और किताबें सुश्रुत के नाम से यह ज्ञान पश्चिम में पहुँच गया। एक ओर अरबी विद्वान ने अपने ग्रन्थों में सुश्रुत का उल्लेख किया तो दूसरी ओर, 10वीं सदी में ईरान के महान् चिकित्सक राजी ने भी उन्हें महान चिकित्सक माना और हल्दी तथा लहसुन के चिकित्सा गुणों पर पुस्तक लिख डाली। बाद के काल में यह ज्ञान यूरोप पहुँचा। सोवियत चिकित्साशास्त्री पेतोव के अनुसार, रूस की प्राचीन चिकित्सा–पुस्तकों में भारत की वनस्पति और खनिज

औषधियों का उल्लेख मिलता है। सुश्रुत संहिता आज भी अनुसंधान का विषय है। सुश्रुत संहिता में अस्पताल के लिए व्रणितायार शब्द का प्रयोग किया गया है। अस्पताल में रोगी के लिए एक घर होता था। इसमें रोगी की शय्या, पीड़ारहित, पर्याप्त लम्बी–चौड़ी सुन्दर गद्देवाली होती थी। शल्यकर्म करने वाले यंत्रों की संख्या एक सौ एक बताई गई है। इनमें प्रधान यंत्र हाथ था। शेष सौ यंत्रों का विभाग छह रूपों में किया गया है। इनमें स्वस्तिक यंत्र 24, सन्देश यंत्र 2, तालपत्र 2, नाड़ीयंत्र 20, शलाका यंत्र 28 और उपयंत्र 24 थे। काटने, चीरने के तीक्ष्ण उपकरण हैं। यंत्र का अर्थ सामान्यतः चिमटी, सड़सी जैसे कुंद औजार हैं। चाकू, सुई, कैची, आरी आदि शस्त्र है। छह प्रकार के यंत्र थे– स्वस्तिक, सन्देश, ताल, नाड़ी, शलाका और उपयंत्र। यंत्रकर्म 24 प्रकार के थे किन्तु चिकित्सक अपनी बुद्धि से और भी तकनीक का प्रयोग करता था। यंत्रों में 12 दोष थे बहुत मोटा होना कमजोर होना, बहुत लम्बा बहुत छोटा, पकड़ में न आना, कठिनाई से पकड़ा जाना, टेढ़ापन, ढीला रहना, बहुत उठा होना, जोड़ का ढीला होना, कोयल मुख और पकड़ ढीली होना। शस्त्रों की संख्या 20 थी। ये सब शस्त्र अच्छी पकड़वाले, अच्छे लोहे के उत्तम धारवाले, देखने में सुन्दर जिनके मुख आपस में ठीक तरह से मिलते हो, भयानक अथवा डरावने नहीं होते थे। शस्त्र का टेढ़ा, कुंठित, टूटा हुआ, खुरदुरी धारवाला (आरी के समान), बहुत मोटा, बहुत छोटा, बहुत लम्बा और बहुत तुच्छ होना दोष था। भेदन कार्य में आनेवाले शस्त्रों की धार मसूर के पत्ते के समान मोटी और बाल के समान पतली होती थी। शस्त्रों को तेज करने के लिए चिकनी शिला होती जिसका रंग उड़द के समान काला होता था। धार को सुरक्षित रखने के लिए डिब्बे का प्रयोग होता था। अपने कर्म में होशियार लोहार द्वारा ये यंत्र शुद्ध लोहे के बनाए जाते थे। कान छेदने की तकनीक विकसित हो चुकी थी। कान की पाली को बढ़ाने के लिए इसमें छेदन करके छल्ले पहनाए जाते थे। इन छल्लों से कई बार पाली कट जाती थी जिसे जोड़ने के लिए शूक नामक कीड़ा एवं तेल आदि का प्रयोग किया जाता था।

इस संहिता में कपोल या शरीर के मुलायम अंग से माँस काटकर नाक बनाने की चर्चा है। कर्णवेधन की भाँति नासिकावेधन करके इनमें आभूषण पहने जाते थे। सुश्रुत ने बताया है कि भयंकर शल्यकर्मों में जहाँ प्राण जाने का भय हो वहाँ मरीज के उत्तरदायी व्यक्ति की रजामन्दी लेकर और राजा को सूचित करके शस्त्र–कर्म किया जाता था। इस संहिता में ग्रहों की पूजा जो कि सम्भवतः प्रथम या दूसरी शताब्दी के समय से चली थी। इसमें नवग्रह पूजा का उल्लेख है। यह विज्ञान सुश्रुत में सबसे पहले मिलता है। शल्य–चिकित्सा में जीवाणु एक मुख्य वस्तु है। सुश्रुत संहिता में इसे निशाचर रूप में व्यक्त किया गया है। जीवाणु के कार्य को ठीक प्रकार से न समझने पर इनका प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर इनको ग्रह देवता से सम्बद्ध बताया गया है। जहाँ भी विचित्रता तथा मनुष्य से अधिक पराक्रम–प्रवृत्ति देखने में आई उसे देवता या ग्रह के साथ जोड़ा गया। यह प्रथा चरक संहिता में नहीं है। शस्त्रकर्म करने से पूर्व रोगी को अच्छे प्रकार से नियंत्रित किया जाता था। शल्यक्रिया से पूर्व उसे लघु भोजन दिया जाता था। मद्य पीनेवाले को मन पिला दी जाती थी मद्य पिलाने से शल्य की पीड़ा नहीं होती थी। सुश्रुत के समय रोगी को मूच्छित करने का साधन सम्भवतः मद्य ही था। हड्डी में फँसी हुई कील को निकालने के लिए रोगी के पाँव थामकर यंत्र द्वारा निकाला जाता था। यदि इस प्रकार कील नहीं निकल पाती तो रोगी को बलवान पुरुषों द्वारा पकड़वाकर यंत्र द्वारा कील को पकड़ा जाता और एक तान्त से घंटे में बँधे हुए घोड़े की लगाम में बाँध दिया जाता था। फिर घोड़े को चाबुक मारने से घोड़ा मुख को ऊँचा उठाता था और इसी के साथ कील झटके से बाहर आ जाती थी। कील को निकालने के लिए दूसरा उपाय था कि वृक्ष की शाखा को झुकाकर उसमें कील को बाँधकर शाखा छोड़ दी जाती थी और इसके झटके से कील बाहर आ जाती थी। लोहे की कील को निकालने के लिए अयस्कान्त अर्थात् चुम्बक का भी उल्लेख है। सुश्रुत ने आँख के रोगों की संख्या 76 बताई है। इन रोगों को ठीक करने के लिए यकृत का उपयोग किया जाता था। गोह के यकृत (जिगर) को चीरकर उसमें पिप्पली (पीपर की जड़) भरकर अग्नि में पकाई जाती थी। पकने पर यकृत को खाया जाता और पिप्पली से अंजन किया जाता था। यही क्रिया बकरी के जिगर (कलेजी) से भी कर सकते थे। आँख के रोगों में त्रिफला का उपयोग सायंकाल करने का उल्लेख है। प्रत्येक सातवें–आठवें दिन अंजन लगाने से आँख ठीक रहती थी। स्वस्थ्य का आदर्श लक्षण सुश्रुत को देन है।

कुष्ठ, ज्वर, शोप (यक्ष्मारोग) को छूत की बीमारी प्रथम बार सुश्रुत ने ही बताया। वायु और जल के शोधन की विधि इसमें सविस्तार वर्णित है। सुश्रुत संहिता के 24वें अध्याय में बीमारी का वर्गीकरण विस्तार से किया गया है। कुछ नए रोगों का भी वर्णन मिलता है। शूल एवं शिरोवस्ति का वर्णन है व्यातव्याधि तथा जीवाणु संक्रमण से बचने के लिए घुतद्रोणी का प्रयोग वर्णित है। रोगों के लिए कुछ विशिष्ट औषधियों को निर्धारित किया गया है–जैसे कुष्ठ के लिए तुवरक, खदिर और बीजक अर्श के लिए कुटज और झल्लातकरू के लिए हरिद्रा, आयवात के लिए गुग्गुल आदि। विषों की चिकित्सा में मंत्र एवं औषध दोनों के प्रयोग का इसमें वर्णन है किन्तु मंत्र का प्रयोग ज्यादा किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि विष का इलाज प्रायः सम्भव नहीं था। एरंडतेल और चतुरगुलतेल का नवीन प्रयोग मिलता है। इस ग्रन्थ में पागलपन के इलाज के लिए सर्पगन्धा नामक जड़ी की चर्चा है। सुश्रुत संहिता में सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा है। 'विश्वामित्र' से कौन से विश्वामित्र अभिप्रेत हैं, यह स्पष्ट नहीं है। अष्टांगसंग्रह में सुश्रुत का जो मत उद्धृत किया गया है। वह मत सुश्रुत संहिता में नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि सुश्रुत संहिता के सिवाय दूसरी भी कोई संहिता सुश्रुत के नाम से प्रसिद्ध थी।

संस्कृत व्याकरण और अमरकोश

यतिंद्र तिवारी

संस्कृत भाषा के प्रायः दस हजार शब्दों के संग्रह ग्रन्थ अमरकोश के रचयिता अमरसिंह के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है और वह भी परिस्थितिजन्य प्रमाणों के आधार पर। अमरकोश के आरम्भ में अप्रत्यक्ष रूप से केवल बुद्ध की स्तुति की गई है। इसी प्रकार, ब्रह्मा, विष्णु आदि से पहले बुद्ध का नाम दिया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि अमरसिंह बौद्ध धर्मानुयायी थे। उनकी गणना वराहमिहिर के साथ विक्रमादित्य के नवरत्नों में की जाती है। अमरसिंह ने अपने कोश का नाम नामलिंगानुशासन रखा था। कदाचित् रचयिता के नाम पर बाद में यह अमरकोश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह एक पद्यबद्ध रचना है। कंठस्थ करने में सुविधा के कारण उन दिनों की रचनाएँ श्लोकों में ही अधिक मिलती है। अमरकोश संस्कृत के कोशों में अति लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। इसे विश्व का पहला समान्तर कोश कहा जा सकता है। इस कोश में प्रायः दस हजार नाम हैं, जहाँ मेदिनी में केवल साढ़े चार हजार और हलायुध में आठ हजार हैं। इसी कारण पण्डितों ने इसका आदर किया और इसकी लोकप्रियता बढ़ती गईं। अमरकोश श्लोकरूप में रचित है। इसमें तीन काण्ड (अध्याय) हैं। स्वर्गादिकाण्डं, भूवर्गादिकाण्डं और सामान्यादिकाण्डम्। प्रत्येक काण्ड में अनेक वर्ग हैं। विषयानुगुणं शब्दाः अत्र वर्गीकृताः सन्ति। शब्दों के साथ–साथ इसमें लिंगनिर्देश भी किया हुआ है। अन्य संस्कृत कोशों की भाँति अमरकोश भी छंदोबद्ध रचना है। इसका कारण यह है कि भारत के प्राचीन पण्डित 'पुस्तकस्था' विद्या को कम महत्व देते थे। उनके लिए कोश का उचित उपयोग वही विद्वान कर पाता है जिसे वह कण्ठस्थ हो। श्लोक शीघ्र कण्ठस्थ हो जाते हैं। इसलिए संस्कृत के सभी मध्यकालीन कोश पद्य में हैं। इतालीय पंडित पावोलीनी ने सत्तर वर्ष पहले यह सिद्ध किया था कि संस्कृत के ये कोश कवियों के लिए महत्वपूर्ण तथा काम में कम आनेवाले शब्दों के संग्रह हैं। अमरकोश ऐसा ही एक कोश है। अमरकोश में साधारण संस्कृत शब्दों के साथ–साथ असाधारण नामों की भरमार है। देवताओं के नामों में लेखा शब्द का प्रयोग अमरसिंह ने कहाँ देखा, पता नहीं। ऐसे भारी भरकम और नाममात्र के लिए प्रयोग में आए शब्द इस कोश में संग्रहीत हैं, जैसे–देवद्रयंग या विश्द्रयंग। कठिन, दुलर्भ और विचित्र शब्द ढूंढ़–ढूंढ़कर रखना कोशकारों का एक कर्तव्य माना जाता था। नमस्या (नमाज या प्रार्थना) ऋग्वेद का शब्द है। द्विवचन में नासत्या, ऐसा ही शब्द है। मध्यकाल के इन कोशों में, उस समय प्राकृत शब्द भी संस्कृत समझकर रख दिए गए हैं। मध्यकाल के इन कोशों में, उस समय प्राकृत शब्दों के अत्यधिक प्रयोग के कारण, कई प्राकृत शब्द संस्कृत माने गए हैं जैसे–छुरिक, ढक्का, गर्गरी (प्राकृत गग्गरी), डुलि, आदि। बौद्ध–विकृत–संस्कृत का प्रभाव भी स्पष्ट है, जैसे–बुद्ध का एक नामपर्याय अर्कबन्धु। बौद्ध–विकृत–संस्कृत में बताया गया है कि अर्कबन्धु नाम भी कोश में दे दिया। बुद्ध के 'सुगत' आदि अन्य नामपर्याय ऐसे ही हैं। अमरसिंह के पूर्ववर्ती कोशों का उनके नामलिंगानुशासन में उल्लेख नहीं मिलता है। परंतु समाहृत्यान्यतन्त्राणि के ध्वन्यार्थ का आधार लेकर अमरकोश की रचना में पूर्ववर्ती कोशों के उपयोग का अनुमान किया जा सकता है। अमरकोश की एक टीका में उपलब्ध 'कात्य' शब्द के आधार पर 'कात्य' या 'कात्यायन' नामक अमर–पूर्ववर्ती कोशकार का और पाठांतर के आधार पर व्याडि नामक कोशाकार का अनुमान होता है। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी के आधार पर धन्वन्तरि के धन्वन्तरिनिघंटु नामक वैद्यक निघंटु (कोश) का संकेत मिलता है। महाराष्ट्र शब्दकोश की भूमिका में भागुरि के कोश को भी जिसका त्रिकांडकोश था उसे अमर–पूर्ववती बताया गया है। यह कोश दक्षिण भारत की एक ग्रथसूची में आज भी उल्लिखित है। रंति या रंतिदेव और रसभ या रसभपाल को भी (महाराष्ट्र शब्दकोश की भूमिका के आधार पर) अमर–पूर्ववर्ती कोशकार कहा गया है। सर्वानन्द ने अमरकोश की अपनी टीका में बताया है कि 'व्याडि' और 'वररुचि' आदि के कोशों में केवल लिंगों का संग्रह है और 'त्रिकांड' एवं 'उत्पलिनी' में केवल शब्दों का। परंतु 'अमरकोश' में दोनों की विशेषताएँ एकत्र सम्मिलित हैं। इस प्रकार 'व्याडि', 'वररुचि' (या कात्य) 'भागुरि' और 'धन्वन्तरि' आदि अनेक कोशकारों का क्षीरस्वामी ने अमर–पूर्ववर्ती कोशकारों और 'त्रिकांड', 'उत्पलिनी', 'रत्नकोश' और 'माला' आदि अमर–पूर्ववर्ती कोशग्रंथों का परिचय दिया है। अमरसिंह के अनंतर कोशकारों और कोशग्रंथों पर अमरकोश का पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। पर्यायवाची कोश बहुत कुछ अमरकोश से प्रभाव ग्रहण कर लिखे गए। 'नानार्थ' या 'अनेकार्थ' कोश भी अमरकोश के नानार्थ वर्ग के आधार पर प्रायः बहुमुखी विस्तार मात्र रहे हैं। 'विश्वप्रकाश कोश' में अवश्य कुछ अधिक वैशिष्ट दिखाई देत है। वह विलक्षण 'नानार्थकोश' है जो अनेक अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में एकाक्षर, द्वयक्षर आदि क्रम से सप्ताक्षर शब्दों तक का संकलन है। 'कैकक', 'कद्विक', आदि भी अध्यायों के नाम हैं। 'अमरकोश' की तरह ही शब्द के अंतिम वर्णानुसार कांत, खांत आदि रूप में शब्दों का अनुक्रम है। उनका 'शब्दकृ भेदकृ प्रकाशिका नामक ग्रंथ भी वस्तुतः इसी का अन्य परिशिष्ट है। इसके चार अध्यायों में क्रमशः 'शब्दभेद', 'वकारभेद', 'ऊष्मभेद' और 'लिंगभेद' नामक चार विभिन्न भेद हैं। अमरकोश पर आज तक चालीस से भी अधिक टीकाओं का प्रणयन किया जा चुका है। अमरकोशोद्घाटन : इसके रचनाकार क्षीरस्वामी हैं। यह क्षीरस्वामी का प्रमेयबहुल ग्रन्थ है। यह अमरकोष की सबसे प्राचीन टीका है।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

विभिन्न कालखंडों के भारतीय परिधान

भारत के इतिहास पर भौगोलिक, जलवायु संबंधी तथा जातीय कारणों का अत्यंत प्रभाव रहा है जिनके फलस्वरूप जनसाधारण की वेशभूषा भी प्रभावित हुई है। एशिया महाद्वीप से आस्थगित, उत्तर में हिमालय से बंधा तथा अन्य दो ओर से समुद्र से घिरा होने से भारत की आकृति ऐसी है जो उसे पर्याप्त रूप से अलग करती है और यही कारण है कि परिवर्तन की लहर की गति यहाँ अत्यधिक धीमी रही है। भारत में भू–मार्ग द्वारा प्रवेश केवल उत्तर–पश्चिम के विभिन्न भू मार्गों से संभव था। भारत में सांस्कृतिक विभाजन उत्तर तथा पश्चिम के उपजाऊ भू–भाग में अपनी सहायक नदियों के साथ बहने वाली दो महान नदियों, सिंधु और गंगा के द्वारा हुआ। मध्य में दकन के पठार ने पश्चिमी घाट व पूर्वी समुद्रतट पर समान पर्वत श्रृंखलाएँ जो नीचे मिलकर नीलगिरी पहाड़ियों का रूप लेती हैं, दक्षिण भारत को सीमाबद्ध कर दिया है जिससे वह अपनी पृथक सांस्कृतिक पहचान बनाए रख सका है। 'रोशन अल्काजी' की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय वेशभूषा' नामक पुस्तक चार काल–खंडों में प्रचलित वेशभूषाओं का अध्ययन हैः मौर्य–शुंग, सातवाहन, कुषाण तथा गुप्त काल (आरंभिक चौथी मध्य शती से आठवीं शती ईसा पूर्व)। दो प्रमुख स्रोत जिनसे वेशभूषाओं का ऐतिहासिक पुनः कल्पन किया जा सकता है, साहित्यिक एवं पुरातत्वीय स्रोत हैं। विश्वसनीयता की दृष्टि से यह उपयुक्त है कि अपने अधिकांश साक्ष्यों को पुरातत्वीय अवशेषों पर आधारित रखा जाए क्योंकि वस्त्रों के साहित्यिक विवरण अस्पष्ट, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा भ्रमित करने वाले हो सकते हैं। पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में काल विशेष का संक्षिप्त सामाजिक इतिहास, उसकी वेशभूषाएँ, शिरोवस्त्र और केश विन्यास, आभूषण तथा रंगाई और छपाई का उल्लेख है। धार्मिक एवं सैन्य वेशभूषाओं पर भी कुछ बल दिया गया है। चूँकि प्रत्येक काल की कला की चाक्षुष शैली उस काल में प्रचलित वेशभूषा का सार प्रस्तुत करती है, इस पर एक संक्षिप्त टिप्पणी जोड़ी गई है। इस पुस्तक में चित्रों का चुनाव प्रत्येक काल में पहने जाने वाली वेशभूषाओं की विविधता दर्शाने के लिए किया गया है। यह प्राचीन भारत में विकसित एवं परिवर्तित वस्त्रों के पुनः कल्पन को युक्तिसंगत बनाने की दृष्टि से किया गया है। रेखाचित्रों में वस्त्रों के क्रियात्मक पक्ष को स्पष्ट करने तथा उनके महत्व पर बल देने के लिए बाहरी प्रभावों को हटाते हुए प्राचीन प्रतिमाओं के टूटे हुए अंशों अथवा रेखाचित्रों में रेखा जोड़कर यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि अमुक काल विशेष में मानव शरीर पर किस प्रकार वस्त्र धारण किए जाते थे तथा किन तत्वों से उनका निर्माण किया जाता था। चित्रों के दृष्टांतों के साथ ही संक्षिप्त लिखित विवरण है जिसमें यथासंभव

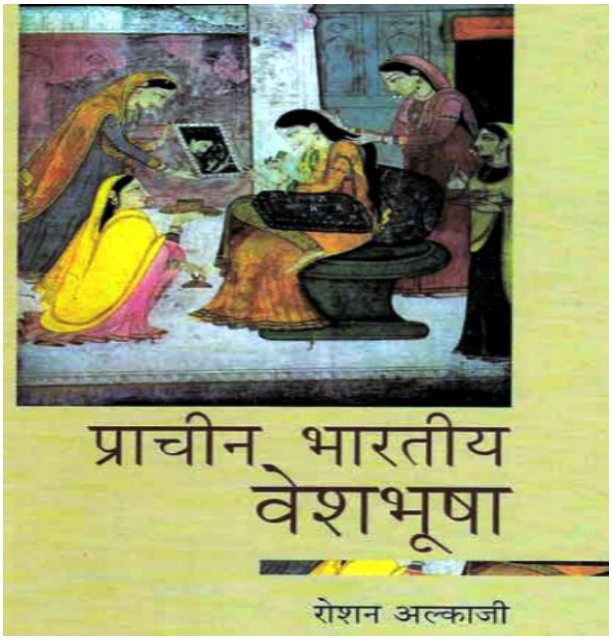

उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग किया गया है। यद्यपि वेशभूषा के पीछे मूल भावना शरीर के विभिन्न अंगों को वस्त्रों से ढंकने की रही होगी, इसका तीव्र गति से विकास हुआ तथा वेशभूषा के लिए अपेक्षित सामग्री जुटाने में प्रकृति का भी अपूर्व योगदान रहा। वेशभूषा वर्ष भर एक जैसी नहीं रहती। कालिदास ने इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है कि किस प्रकार ग्रीष्म ऋतु अपने आगमन के साथ राजकुमार की प्रेयसियों को वस्त्र पहनने के ढंग का पाठ पढ़ाती है जिसके अनुसार शरीर के ऊपर के वस्त्र बारीकी से रत्नजटित हों। भारत के वस्त्रों की कहानी दुनिया की सबसे पुरानी कहानियों में से एक है तथा यह प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। मध्यपाषाण युग गुफा चित्रकारियों में कमर परिधानों को दर्शाने वाले उदाहरण मिले हैं, लेकिन वस्त्र के उत्पादन और उपयोग के ठोस साक्ष्य इतिहासोन्मुख काल यानी तीसरी सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व से ही दिखाई देना शुरू होते हैं। हड़प्पा और चन्हूदड़ो में मिलने वाला, जंगली देशी रेशम कीट प्रजाति का साक्ष्य, मध्य तृतीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व में रेशम के उपयोग का संकेत देता है। हमें वैदिक काल (1500–800 ईसा पूर्व) से परिधान की सामग्रियों और शैलियों के उद्धरण मिलते हैं जो प्राचीन भारत के वस्त्र इतिहास के विकास को इंगित करते हैं। यह पुस्तक बिना किसी दुरुह संदर्भों अथवा विशिष्ट तकनीकी शब्दावली के पर्याप्त संदर्भ सामग्री को सरल रूप में तत्काल सुलभ कराने का एक प्रयास है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com